सार्वजनिक शिक्षा और दलित लड़कियां

संदीप कुमार मील

आधुनिक राष्ट्र राज्य ने शिक्षा को सामाजिक रूपांतरण और नागरिक निर्माण की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में अपनाया है। ऐसे में जब भी उस राज्य में समतामूलक समाज की स्थापना के समक्ष कुछ चुनौतियाँ आती है या वह अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाता है। ऐसे में उसकी दिशा और गुणवत्ता का मूल्यांकन करना हो तब उस प्रक्रिया को आलोचनात्मक दृष्टि से गुजारना होता है। भारतीय लोकतंत्र के संवैधानिक मूल्यों की स्थापना के समक्ष की चुनौतियों को शिक्षा के ढ़ांचे, प्रक्रिया और पद्धति से ही समझा जा सकता है। दलित लड़कियों की शिक्षा प्राप्ति के संबंध में जो चुनौतियां आती हैं उन्हें मूलरूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है - पहली चुनौती दलित पितृसत्ता की है, दूसरी चुनौती वर्णवादी वर्चस्व की है और तीसरी राज्य की शिक्षा व्यवस्था के दार्शनिक पक्ष और व्यवहारिक पक्ष की है।

अब पहली चुनौती की चर्चा की जाए जो दलित पितृसत्ता की है। दलित समाज में स्त्री को घर से बाहर काम का अधिकार है यानी कि वह मजदूरी करने के लिए स्वतंत्र है और सिर्फ घर की चार दिवारी में कैद नहीं है। इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि वह आर्थिक रूप से निर्णय लेने में सक्षम है या उसकी मजदूरी पर उसका आधिपत्य है। उसकी मजदूरी पर आधिपत्य दलित पुरुष का ही है और वह यह भी तय करता है कि उसे कहां कार्य करना चाहिए या कहां कार्य नहीं करना चाहिए। कार्यस्थल पर मालिक उसके नियम कायदे तय करता है और घर पर उसके घर का पुरुष यह कार्य कर रहा होता है। दलित स्त्रियों के मजदूरी के काम में लगने और घर की चार दीवारी से बाहर निकलने के अपने ऐतिहासिक कारण हैं उनमें से एक प्रमुख कारण सामंतवादी दौर में उन्हें उत्पादन के प्रमुख साधन भूमि से वंचित किया जाना है। जब आमदनी का स्थायी साधन नहीं रहा तो प्रतिदिन कमाकर खाने की स्थिति आ गई। अकेले पुरुष की मजूदरी से घर का कार्य नहीं चलता तो स्त्री भी मजदूरी करने लगी। इसलिए उनके आर्थिक जीवन में शिक्षा की आवश्यकता ही महसूस नहीं की गई। अधिकतर दलित स्त्रियों के असंगठित क्षेत्र में मजदूर होने के कारण सिर्फ शारीरिक क्षमताओं का होना ही पर्याप्त माना गया।

प्राचीन भारत में दलितों और स्त्रियों दोनों की शिक्षा का कोई प्रावधान नहीं था। उन्हें ज्ञान की व्यवस्थित संरचना से दूर रखा गया था और उनकी ज्ञान प्राप्ति की किसी भी कोशिश के लिए दंड का प्रावधान भी था। इसलिए उस दौर में दलित स्त्रियों की शिक्षा की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। औपनिवेशिक भारत में दलित बालिकाओं के लिए सर्वप्रथम सन् 1852 में सावित्री बाई फूले ने एक कन्या विद्यालय की स्थापना की। वे भारत की पहली शिक्षिका थीं। उस समय स्त्रियों की शिक्षा पर पाबंदी थी। ऐसे समय में सावित्रीबाई फूले का बालिकाओं का विद्यालय खोलना भारतीय स्त्रियों की मुक्ति का पहला द्वार खोलने के समान था। इस कार्य को आगे बढ़ाने का कार्य ताराबाई शिंदे ने किया। राजस्थान में दलित शिक्षा के इतिहास को देखा जाए तो सन् 1869 में अजमेर में एक मिशनरी स्कूल में एक महतर बालक को प्रवेश दिया गया। सवर्ण समाज ने इसका विरोध किया।

अग्रेजों की शिक्षा ने एक बड़ा योगदान यह दिया कि उन्होंने वर्णवादी वर्चस्व को चुनौती दी और ज्ञान पर दलितों और स्त्रियों की पाबंदी को तोड़ा। सामाजिक चेतना के विस्तार में यह एक बहुत बड़ा मोड़ था जहां पर पूंजीवाद और सामंतवाद आमने-सामने खड़े हुए। पूंजीवाद के लिए आधुनिकता जरूरी थी, तभी उनको शिक्षित मजदूर उपलब्ध हो सकते थे और सामंतवाद के लिए अपनी परम्परागत धारणाओं को बचाना आवश्यक था क्योंकि यह उसके अस्तित्व का सवाल था। इसका परिणाम यह निकला कि जहां पर मिशनरी के माध्यम से शिक्षा दी जा रही थी वहां पर आधुनिकता प्रभावी रही। जहां पर अन्य तात्कालिक भारतीय शिक्षा प्रचलन में थी जिसमें बड़ी संख्या सामुदायिक शिक्षा की थी वहां पर परम्परागत मूल्यों का वर्चस्व रहा। ये दोनों मत लम्बे समय तक संक्रमण के दौर से गुजरे हैं और समय, स्थान व भूमिकाओं के आधार पर एक-दूसरे पर हावी भी होते रहे हैं। इस पूरे दौर में एक महत्वपूर्ण विचार ने समाज के अवचेतन में गहराई तक दस्तक दी; वह यह कि ज्ञान कोई भी प्राप्त कर सकता है। यह किसी की वंशगत और परिवार आधारित जन्मजात योग्यता पर निर्भर नहीं होता। इस विचार की अभिव्यक्ति बाद में डॉ. भीमराव अम्बेकर जैसे विद्वान के उभार के रूप में सामने आई। वर्तमान समय तक चली आ रही इस परम्परा और आधुनिकता के संक्रमण में दोनों का एक मिश्रण भी पैदा हुआ और उसी के तहत उच्च वर्णों में भी उदारवादी लोग सामने आये। इसी संक्रमण के बारे में रोडनी हिल्टन कहते हैं, ''एक सामाजिक प्रणाली से दूसरी सामाजिक प्रणाली में संक्रमण ऐसी प्रक्रिया होती है जिसमें दोनों प्रणाली सीधे-सीधे एक-दूसरे का मुकाबला करती हैं, लेकिन इन संक्रमणकालीन स्वरूपों को सर्वोच्चता के लिए संघर्ष करती दोनों प्रणालियों के मिले-जुले तत्वों का मिश्रण माना जाता है।''[1]

इन दोनों व्यवस्थाओं के संक्रमण से जो मिश्रित तत्व निकलकर आया वो था कि पितृसत्ता को उपस्थित रखा जाए लेकिन कुछ स्त्रियोचित कार्यों के लिए स्त्रियों को शिक्षा दी जाए। इसमें शिक्षिकाओं और मेडिकल के कुछ रोजगारों को रखा गया। शिक्षिका प्रजनन क्षमता के कारण बालक के लालन-पालन के लिए परम्परागत मूल्यों का आधुनिक रूपांतरण मात्र था और मेडिकल के कार्य भी स्त्रियों के लिए पितृसत्ता द्वारा निर्धारित देखभाल से संबंधित थे। इन दोनों कार्यों के लिए स्त्री की भूमिका को सामंतवाद तो इसलिए महत्व देता है कि वे पुरुष के नियंत्रण में होती हैं। पूंजीवाद उनके श्रम के अतिरिक्त मूल्य को आसानी से हासिल कर पाने के कारण कोई ऐतराज नहीं करता है। लेकिन जब वर्णवादी वर्चस्व ने अपना प्रभाव दिखाया तो वह भी इस संक्रमण में कुछ हस्तक्षेप कर पाया। वह हस्तक्षेप यह था कि दलित स्त्रियों को इन रोजगारों से भी लम्बे समय तक दूर रखा गया। वर्चस्ववादी समाज यह बात तो मान रहा था कि जो स्त्री घर में बच्चों को पालती है वह विद्यालय में पढ़ा भी सकती है लेकिन यह स्वीकार नहीं कर पा रहा था कि वे जिस स्त्री को अपने बच्चे छूने का अधिकार नहीं देते वो विद्यालय में उनको पढ़ाये।

स्वतंत्र भारत में संविधान में समानता के मूल्यों को प्रमुख स्थान देने के कारण दलित स्त्रियों की शिक्षा के रास्ते खुले लेकिन घर में दलित पितृसत्ता ने मजबूती से जकड़ बना रखी थी। वहीं विद्यालयों के सार्वजनिक लोकस्थलों का पितृसत्तात्मक और जातिवादी ढ़ांचा नहीं टूटा। स्कूलों में बालिकाओं से वे ही सारे कार्य कराये जाते जो भूमिका पितृसत्ता ने घर के दायरे में स्त्रियों के लिए निर्धारित कर रखी थी। दलित लेखन में इसके पर्याप्त उदाहरण हैं कि दलित बालिकाओं से विद्यालय में सफाई जैसे कार्य करवाये गए और उनके साथ छुआछूत का व्यवहार किया गया। विद्यालय ने अपने दायरे में असमानता की परम्पराओं को तोड़ने की कोशिश नहीं की। दलित पितृसत्ता स्त्रियों के बारे में उनका पति की सम्पत्ति होने का जो तर्क घर में देती थी, विद्यालय भी उनकी पुष्टि में लग गया। इसलिए दलित बालिकाओं का विद्यालय के प्रति बहुत अधिक लगाव नहीं बढ़ा। वे यहां घर की कैद से बाहर आकर भी आजाद महसूस नहीं करतीं।

वर्ण व्यवस्था के वर्चस्ववादी ढ़ांचे ने जो श्रम और ज्ञान के बीच गहरा भेद उत्पन्न कर दिया था विद्यालय ने उसे भी पाटने की विशेष कोशिश नहीं की। दलितों को हमेशा उनके भावी विकल्पों के तौर पर वे ही कार्य सुझाये गए जो इस व्यवस्था ने उनके उत्पीड़न के लिए निर्धारित किये थे। उनके श्रम और कार्यों को ज्ञान के दायरों में शामिल ही

---

1. रोडनी हिल्टन (सं.), सामंतवाद से पूंजीवाद में संक्रमण, पाल एम. स्वीजी : डाब की स्थापना की आलोचना, ग्रंथ शिल्पी प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण 2007, पृ. 49।

नहीं किया गया। उसका परिणाम यह हुआ कि दलित बालिकायें विद्यालय की शिक्षा को अपने परिवेश से जोड़ नहीं पाईं। समावेशी विकास के तहत उन्हें कक्षा-कक्ष में सम्मानजनक और स्वत्रंत वातावरण इसलिए नहीं मिल पाया क्योंकि अध्यापकों के अपने पूर्वाग्रह थे। वे भी शिक्षा की उसी प्रक्रिया से आये थे जहां पर इन पूर्वाग्रहों पर चोट करके कोई वैज्ञानिक चेतना का विस्तार नहीं किया गया था।

विद्यालयों में शिक्षा पद्धति के रूप में दंड और पुरस्कार की अवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग में सवर्ण और दलित के बीच का भेदभाव चलता रहा है। दलित बच्चों को उनकी जाति के कारण कठोर दंड सहन करना पड़ता है तो सवर्ण बच्चों को कुछ छूट मिल जाती है। दलित बालिकाओं के साथ तो दंड में शिक्षक अपनी यौन कुंठाओं को भी उडेल देते हैं। इसके कारण दंड की अमानवीयता बढ़ जाती है और एक सीमा पर आकर दलित बालिकाओं का विश्वास विद्यालय नामक संस्था से ही उठ जाता है।

दलित बालिकाओं की शिक्षा में दूसरी चुनौती वर्णवादी वर्चस्व की रही है जिसका सामना उन्हें अपने घर के बाहर निकलने से लेकर वापसी तक सभी जगहों पर करना पड़ता है। उनके अपने मोहल्ले से बाहर निकलते ही चुनौतियों का अचानक बढ़ जाना वर्णवादी वर्चस्व के परिवेश में उनकी शक्तिहीन स्थिति को प्रदर्शित करता है। इसके साथ ही, यह भी एक ध्यान देनी वाली बात है कि गांवों के स्कूल अधिकांश दलित बस्तियों से दूर होते हैं। दलित बालिकाओं को यातायात के उचित साधन न होने के कारण वहां तक पहुंचने में भी काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। अंततः दलित बालिकायें विद्यालय छोड़ देती हैं। उन्हें घर पर अपने छोटे भाई-बहनों को भी संभालना होता है क्योंकि माता-पिता तो मजदूरी पर चले जाते हैं। उनके छोटे भाई-बहनों को जब वे विद्यालय में ले जाती हैं तो शिक्षक उन्हें कक्षा में अपने साथ बिठाने की अनुमति नहीं देता है। कई बार वे बच्चे अपनी बहनों के साथ बैठे हुए कुछ सहज बाल-सुलभ गतिविधियां कर देते हैं जिसमें हंसना, रोना, उछलना आदि हैं। उसके बाद शिक्षक द्वारा उन बालिकाओं को लज्जित किया जाता है। कक्षा के बच्चे उन पर हंसते हैं और लड़कों की तरफ से इस हंसने में अधिक उत्साह से भागीदारी होती है।

जॉन ड्यूई का वह सवाल याद आता है, ''हमें अपनी पाठशाला के कार्य की परीक्षा यह पता लगाकर भी करनी चाहिए कि क्या वह अच्छे निर्णय के लिए आवश्यक परिस्थितियां प्रस्तुत करती है।''[2] इसे दलित बालिकाओं की स्थिति से देखा जाए तो उनके लिए अभी भी भारत में उपयुक्त संवैधानिक परिस्थितियां उपलब्ध नहीं हैं। स्वतंत्रता के बाद उनके साथ खाने-पानी के सहज मानवीय स्वभाव को विकसित करना तो दूर की बात है उनके द्वारा छू देने मात्र से उनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है। स्कूल में जब से पोषाहार और मध्याह्न भोजन का प्रावधान हुआ है तब से कई समाचार इस संबंध में समाचार पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं कि दलित बच्चों को अलग कतार में बैठाकर भोजन कराया जाता है, उनके बर्तन अलग होते हैं आदि। इंडिया टुडे की एक रिपोर्ट के अनुसार, ''45 प्रतिशत बच्चे निरक्षर रह जाते हैं। करीब 40 फिसदी सरकारी स्कूलों में दलितों बच्चों को कतार से अलग बैठकर खाना पड़ता है।''[3]

ऐसी अमानवीय और असमानतामूलक परिस्थितियों के आधार पर भारतीय विद्यालयों के परिवेश का बड़ा आकलन किया जा सकता है। इस परिवेश को विद्यालयों की प्रतिदिन की गतिविधियों के आधार पर समझा जा सकता है। किसी विद्यालय की प्रार्थना-सभा से पूर्व का समय साफ-सफाई का होता है और भारतीय समाज के वर्णवादी वर्चस्व में यह निर्धारित है कि सफाई जैसे काम दलित समुदाय को करने होंगे। विद्यालय भी इसी सोच को आगे बढ़ाते हैं और सफाई के कामों की बात आते ही शिक्षकों की सोच में भी दलित बच्चों के नाम आते हैं। चूंकि सफाई के काम वर्णवाद ने तो दलित समुदाय को पूरे करने के लिए मजबूर कर दिया लेकिन दलित समाज में भी उसको करने की अंतिम जिम्मेदारी स्त्री पर आती है। विद्यालय भी उसी सोच को आगे बढ़ाते हुए सफाई का कार्य दलित बालिकाओं से करवाता है। वे घर में भी सफाई का काम करती है और विद्यालय में आकर भी वही काम करना होता है और दोनों ही जगह

---

1. जॉन ड्यूई : शिक्षा में नैतिक सिद्धांत, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लिमिटेड, नई दिल्ली, 2012, पृ. 47।
2. http://thewirehindi.com/26899/bihar-dalit-atrocity-bhagalpur-gangrape-murder-nitish-kumar/

उनकी सहमति-असहमति का कोई महत्व नहीं होता है। ऐसी स्थिति में कोई दलित बालिका घर और विद्यालय में कोई अन्तर नहीं कर पाती है। उसके लिए तो दोनों ही स्थान एक समान हैं जहां उसे सबसे नीचले स्तर का कार्य करने को मजबूर किया जाता है। इस मनोदशा में कोई बालिका जब संविधान में वर्णित समानता की बात का अध्याय कक्षा में पढ़ रही होती है तो उसे व्यवहार और सिद्धांत के बीच बहुत दूरी महसूस होती है। वह उन बातों के साथ तार्किक रूप से जुड़ने के बावजूद संवेदनात्मक रूप से नहीं जुड़ पाती है।

कोई भी सिद्धांत जब कानून का रूप धारण कर लेता है तब लोग उसे मानने के लिए बाध्य तो हो जाते हैं लेकिन उसके मूल्यों को अपने जीवन में आत्मसात नहीं कर पाते हैं। यह तभी संभव है जब लोग सिद्धांत और व्यवहार के मध्य एक सामंजस्य बैठा पाएं। सिद्धांत उनके व्यवहार को परिमार्जित करता रहे और व्यवहार से सिद्धांत को नए सवाल और चुनौतियां मिलती रहें। यहां पर स्थिति ऐसी होती है कि व्यवहार में वर्णवादी वर्चस्व हावी रहता है और पाठ्य-पुस्तकों में लोकतांत्रिक समानता उपस्थित होती है। इन दोनों के अंतर्द्वंद में हमेशा ही व्यवहार अधिक प्रभावी होता है। यह भारतीय विद्यालयों में भी हुआ और पाठ्य-पुस्तकें अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाईं क्योंकि विद्यालय में चर्चा, व्यवहार और गतिविधियां इन पाठ्य-पुस्तकों की दिशा में गई ही नहीं। इसलिए यहां पर शिक्षा समाज के आगे चलने की बजाय समाज ने उसे अपने अनुरूप ढ़ाल लिया।

सार्वजनिक विद्यालयों की प्रार्थना सभाओं का ढांचा धर्मनिरपेक्ष होने की बजाय बहुसंख्यक आबादी के हिन्दू धर्म के अभ्यास को अपना चुका है। इसी कारण से इस गतिविधि में भी वर्णवादी वर्चस्व हावी रहता है। प्रार्थना में अक्सर बालिकाओं को नेतृत्व दिया जाता है क्योंकि पितृसत्ता की यह मान्यता है कि स्त्रियों के स्वर अच्छे होते हैं जिससे वे सुरीला गा पाती हैं। प्रार्थना में पितृसत्ता की यह सोच दलित बालिकाओं के मामले में कमजोर पड़ जाती है और वर्णवादी वर्चस्व हावी हो जाता है जिससे दलित बालिकाओं को कभी भी प्रार्थना का अवसर नहीं दिया जाता। वे एक तरफ संविधान में वर्णित अवसरों की समानता का सिद्धांत पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ती हैं वहीं दूसरी तरफ अवसरों की उपलब्धता में किया जाने वाला भेदभाव वास्तविकता में देखती हैं। प्रार्थना में जिस तरह के परम्परागत मूल्यों के प्रति विद्यार्थियों से आस्था जगवाई जाती है वे विवेक, तर्क और वैज्ञानिकता से बहुत दूर होते हैं। जब विद्यालय का सुबह का आधार ही संवैधानिक मूल्यों के विपरीत दिशा में प्रारंभ होता है तो निश्चित रूप से दिन भर के शिक्षण में इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव बच्चों के मस्तिष्क पर रहता है।

अब कक्षा-कक्ष के आंतरिक ढ़ांचे को देखा जाये तो वहां भी यह वर्णवाद और पितृसत्तात्मक वर्चस्व स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। लड़कियां हमेशा अग्रिम पंक्ति में बैठाई जाती हैं क्योंकि यह मान्यता है कि लड़कियों पर शिक्षक की दृष्टि रहनी चाहिए। पीछे बैठने पर लड़के और लड़की के बीच का भेद समाप्त होकर उनके संवाद की उम्मीद हो सकती है। इसलिए ऐसी किसी भी उम्मीद को विद्यालय में ना अंकुरित होने देना शिक्षक अपना दायित्व समझते हैं। लड़कियों में भी दलित लड़कियां अधिकांशतः सवर्ण लड़कियों के पीछे की कतार में बैठाई जाती हैं जो लड़कों के एकदम आगे होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि शिक्षक की दृष्टि में दलित लड़कियों का स्थान सवर्ण लड़कियों के बाद का है। कक्षा-कक्ष की बैठक व्यवस्था भारतीय शिक्षा में समाज के सभी स्तरीकरणों का प्रतिनिधित्व करती है जहां पर बच्चे का बैठने का स्थान उसकी जाति और जेंडर के आधार पर तय होता है। इस व्यवस्था से समाज की वर्णवादी शक्ति संरचना लोकतांत्रिक स्थल में प्रवेश कर जाती है और उस स्थल को अपने लक्ष्यों से भटकाने का काम करती है। अब वह एक कक्षा-कक्ष न रहकर समाज का छोटा रूप हो जाता है। वैसे ही सामाजिक द्वंद और तनाव कक्षा-कक्ष में आने लगते हैं और वे असमानता के मनोविज्ञान को एक स्थाई स्वरूप देने में सफल होते हैं।

यह व्यवस्था इसलिए भी अधिक प्रभावी हो पाई क्योंकि कक्षा-कक्ष में एक और शक्ति संरचना उपस्थित रहती है और वह शक्ति संरचना शिक्षक की होती है जो स्वयं को इस कक्षा-कक्ष की धुरी मानता है। शिक्षक के लिए कुर्सी होती है और बच्चे अधिकांशतः नीचे दरी पर बैठते हैं। बच्चे इस विशेष तैयार की गई व्यवस्था में शिक्षक के साथ स्वयं को जोड़ नहीं पाते हैं और दलित बालिकाओं के लिए तो यह अधिक चुनौतीपूर्ण हो जाता है। कुछ समय तक तो बच्चे

अपने मनोविज्ञान में इस स्थिति का प्रतिकार करते हैं लेकिन एक सीमा के बाद उनकी चेतना यह स्वीकार कर लेती है कि शिक्षक, कक्षा-कक्ष और उनके बीच के संबंधों में शिक्षक एक शक्ति केंद्र है। जहां भी कोई शक्ति का केंद्र स्थापित हो जाता है तो वह अपना प्रभाव भी बनाता है और इस प्रभाव को जब बच्चों द्वारा महसूस करना शुरू कर दिया जाता है तब से उनकी चिंतन प्रणाली प्रभावित होने लग जाती है।

कक्षा-कक्ष की बहुशक्ति केंद्रित व्यवस्था में सबसे नीचे के पायदान पर दलित बालिका होती है। उसकी चिंतन प्रणाली एक सीमा के बाद यथास्थितिवादी हो जाती है और वह अपनी स्थिति को एक नियति के रूप में स्वीकार कर लेती है। यह किसी भी लोकतंत्र के लिए एक घातक कदम है कि उसका भावी नागरिक अपने विकास के पहले ही चरण में नियतिवाद की तरफ बढ़ जाता है। भविष्य में न तो वह स्वतंत्र निर्णय लेने वाला नागरिक बनता है और न ही उसकी आलोचनात्मक दृष्टि विकसित हो पाती है। कक्षा-कक्ष की यह संरचना बच्चों के मन में पैदा होने वाले सवालों को भी प्रभावित करती हैं। दलित बालिकायें जो सवाल घर में नहीं पूछ सकती उन्हें कक्षा-कक्ष में पूछा जाना चाहिए था लेकिन वे सवाल उनके मन में ही रह जाते हैं। इस अघोषित भय के माहौल में कक्षा-कक्ष में एक तरफा शिक्षण होने के कारण उदासीनता आ जाती है।

जब विद्यालय के विभिन्न स्थानों पर वर्णवादी वर्चस्व कार्य करता है तो वह निश्चित रूप से खेल के मैदानों तक भी पहुंच ही जाता है। खेल के मैदानों में अधिकांश शिक्षकों का कोई हस्तक्षेप नहीं होता है। कई विद्यालयों में शारीरिक शिक्षा के शिक्षक ही नहीं होते और जहां शिक्षक होते हैं वे भी अपनी जिम्मेदारी प्रार्थना करवाने और कुछ अनुशासन बनाने तक ही सीमित रखते हैं। बच्चों के साथ खेल के मैदान में शिक्षक को बहुत कम विद्यालयों में देखा जाता है। ये मैदान पूरी तरह से बच्चों के नियंत्रण में होते हैं और बच्चे इनका बंटवारा अपनी सामाजिक मान्यताओं के आधार पर करते हैं क्योंकि यहां तक आते हुए उन्हें यह पूरा विश्वास हो जाता है कि समाज में जो चल रहा है, जो मूल्य स्थापित हैं या जो स्तरीकरण है उनका यहां विद्यालय में प्रयोग करने पर कोई रोक नहीं है और विद्यालय अलग तरह का लोकस्थल नहीं है। इस विश्वास के कारण वे खेल के मैदान के अधिकांश हिस्से पर सिर्फ लड़कों के आधिपत्य को स्थापित कर पाने में कुछ सहयोग करते हैं और जिनको विरोध करना चाहिए वे विरोध नहीं कर पाते हैं। वैसे भी भारतीय समाज में खेलों का विभाजन, खेल स्थलों का विभाजन और खेलने के लिए उपलब्ध समय का विभाजन वर्णवादी और पितृसत्ता के निर्देशन में होता है। कुछ खेलों को लड़कों के लिए निर्धारित कर दिया जाता है कुछ लड़कियों के लिए। लड़कों के लिए निर्धारित खेलों में कबड्डी और फुटबॉल जैसे खेल होते हैं जिन्हें मर्दानगी से जोड़कर श्रेष्ठ खेलों में शामिल कर दिया जाता है। एक ऐसी मान्यता रची जाती है कि ये खेल लड़कियां नहीं खेल सकती हैं। उनके लिए निर्धारित खेल मूल रूप से परिवार में स्त्री के लिए निर्धारित छवि के अनुरूप होते हैं जिसमें वे मां, पत्नी, बहन और बेटी की भूमिकाएं सामंती सामाजिक मूल्यों अनुरूप निभाएं।

खेल में भी समाज अपना नियंत्रण रखता है कि कोई नागरिक उस नियंत्रण से बाहर जाने की कोशिश ना करे और यह भी भ्रम रचा जाता है कि वह अपने उत्पीड़न को इंजॉय करे। विद्यालय के खेल मैदान में भी इसी तरह की शक्तियों का नियंत्रण होता है और अधिकांश मैदान पर लड़कों के खेलों का अधिकार हो जाता है। खेलों के स्तरीकरण में उनको मिलने वाली जगह भी महत्वपूर्ण हो जाती है। जैसे कि लड़कों के खेलों को बड़े मैदान दिये जाते हैं जहां वे खुलकर खेल सकते हैं। दौड़ सकते हैं, उछल सकते हैं और खुले आकाश में लम्बी दूरी के सपने देख सकते हैं और सपनों का स्पेस से बहुत गहरा रिश्ता है। हालांकि तंग जगहों पर भी मुक्ति के सपने देखे जा सकते हैं लेकिन उसके लिए चेतना के विस्तार की आवश्यक होती है और शिक्षा का मुख्य काम यही है कि लोगों को उत्पीड़न का अहसास कराये और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे।

विद्यालय के इन खेल के मैदानों में जो स्पेस लड़कियों के लिए निर्धारित होता है वह कोई पेड़ की छांव या मैदान का कोना होता है जहां पर वे खेलती हैं। इस स्पेस में भी दलित बालिकाओं की भागीदारी कम होती पाती है क्योंकि लड़कियों के समूह भी जाति और वर्गीय आधार पर बंट जाते हैं। दलित लड़कियों का समूह इसलिए भी अलग बनता

है कि वे एक ही मोहल्ले की रहने वाली होती हैं, उनकी आर्थिक स्थिति भी समान होती है और जाति का दंश भी झेलती हैं। खेल का मैदान भी असहजतापूर्ण होने के कारण ये लड़कियां खेलती ही नहीं हैं, अन्य लड़कियों को खेलते हुए देखती हैं। कई बार बहुत कम उम्र की दलित लड़कियां उच्च जाति की लड़कियों के साथ खेलने की कोशिश करती हैं लेकिन वे उन्हें अपने साथ खिलाती नहीं हैं क्योंकि घर और समाज उनकी सोच में एक असमानता और अलग होने का भाव भर देते हैं। ऐसी स्थिति में ये दलित लड़कियां शिक्षकों के पास शिकायत लेकर आती हैं। तब शिक्षक की भूमिका ऐसी हो जाती है कि वह सवर्ण लड़कियों के साथ इस तरह से संवाद स्थापित करे कि उनके मन में समानता का भाव जागृत हो और एक मानवीय गरीमा के मूल्य को वे अपने जीवन में उतार सकें। दलित लड़कियों का आत्मबल मजबूत हो और वे स्वयं के साथ होने वाले अत्याचार का भविष्य में प्रतिकार कर सकें। कुछ शिक्षक इस तरह का अभ्यास करते भी हैं लेकिन बहुत सारे ऐसे भी होते हैं जो इन बातों पर या तो ध्यान नहीं देते या फिर उन दलित लड़कियों को इस तरह का जवाब देते हैं कि वे अपने साथ हो रहे असमानता के व्यवहार को मौन रहकर सहने को विवश हो जाती हैं। कुछ शिक्षक ऐसे भी होते हैं जो इसी व्यवहार को उचित बताते हैं और उन्हें अलग खेलने का आदेश देते हैं। इन सभी स्थितियों में शिक्षकों की तुलना में शिक्षिकाओं का व्यवहार उदारतापूर्ण देखा जाता है लेकिन जाति आधारित मानसिकता उनकी उदारता को भी प्रभावित करती है।

वास्तव में विद्यालय के शिक्षकों के साथ जाति, वर्ग और जेंडर की चुनौतियों पर गंभीर अध्ययन-अध्यापन ना तो सेवापूर्व प्रशिक्षण में होता है और न ही सेवाकालीन प्रशिक्षणों में। इसके परिणामस्वरूप ऐसे सामाजिक द्वंदों के निवारण के बारे में शिक्षक कोई वैज्ञानिक व लोकतांत्रिक पहल नहीं कर पाते हैं और वे समाज में अर्जित ज्ञान के आधार पर ही इन प्रश्नों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं जो वैज्ञानिक व लोकतांत्रिक नहीं होने के कारण रूढ़ और जड़तापूर्ण होती है। जाति व्यवस्था का विद्यालयों के परिवेश में फलने-फूलने के जिम्मेदार शिक्षक नहीं होते हैं जैसा कि कुछ लोग आरोप लगाते हैं बल्कि इसकी जिम्मेदार शिक्षण प्रक्रिया है जिससे लोगों की विश्लेषण क्षमता का विकास होता है। इस प्रक्रिया के तहत सामाजिक मान्यताओं पर प्रश्न किये ही नहीं जाते हैं और कुछ प्रश्न अपनी स्वभाविक प्रक्रिया से सामने आते हैं तो उन पर किसी प्रकार का तर्क करने की बजाय परम्परा के नाम पर यथास्थिति को स्वीकार कर लिया जाता है। वास्तव में तो शिक्षण प्रक्रिया के माध्यम से इन पर तर्क पूर्ण चर्चा होना आवश्यक है। इस चर्चा को एक संयोजित संवाद के माध्यम से किया जाये तो वर्णवादी वर्चस्व की असमानता पर सभी बच्चे और शिक्षक एक वैज्ञानिक समझ विकसित कर पाते और समानता के पक्ष में एक बड़ा शिक्षित समुदाय उभरकर सामने आता। खेल के माध्यम से तो ऐसी चर्चाओं को काफी गंभीर और अर्थपूर्ण बनाया जा सकता है क्योंकि खेल में आगे बढ़ने का आधार जन्मजात न होकर अवसर और अभ्यास पर निर्भर होता है। इसी तथ्य को सामाजिक संदर्भ में रखकर चर्चा की जाती तो स्पष्ट हो जाता कि जन्मजात असमानता का सिद्धान्त असत्य है। बच्चे इस तथ्य को जीवन में उतारते जिससे भविष्य में लोकतंत्र में सामनता के मूल्यों की स्थापना में वे अपना योगदान दे पाते। लेकिन ऐसी चर्चाओं के ना होने के परिणामस्वरूप विद्यालयों के अधिकांश स्पेस में दलित लड़कियों की भागीदारी नहीं हो पाती है।

इसी तरह से पुस्तकालय भी विद्यालय का एक प्रमुख स्थल होता है जहां पर बच्चे कक्षाओं की श्रेणी से मुक्त होकर संवाद कर पाते हैं और एक-दूसरे को समझ पाते हैं। सार्वजनिक विद्यालयों में पुस्तकालयों की स्थिति बहुत चिंताजनक हो चुकी है। पुस्तकालय के लिए प्राथमिक आवश्यकता वह कमरा माना जा सकता है जिसमें पुस्तकों को रखा जाना होता है लेकिन विडम्बना है कि अधिकांश विद्यालयों में ऐसा कोई कमरा निर्धारित होता ही नहीं है। मेरा जयपुर के कुछ विद्यालयों का ऐसा अनुभव है कि वहां पर पुस्तकें तो होती हैं लेकिन उन्हें अल्मारियों में बंद करके या तो स्टोर रूम में रखा जाता है या फिर किसी कक्षा-कक्ष में जहां पर विद्यार्थियों का बैठकर अध्ययन करना संभव नहीं होता। विद्यालयों में पुस्तकालय का प्रभार जिस शिक्षक के पास होता है वह प्रायः ऐसा करता है कि वर्ष में एक बार सब बच्चों को एक-एक पुस्तक देता है। इस पुस्तक देने की प्रक्रिया में बच्चे की रुची का किसी तरह से ध्यान नहीं रखा जाता है। उन्हें एक पंक्ति में खड़ा करके बारी-बारी से पुस्तक दी जाती है। यह एक तरह से पुस्तकों का लॉटरी सिस्टम होता है जिसमें इस संयोग की कम ही संभावनाएं रहती हैं कि लोगों को उनकी पसंद की पुस्तकें मिल जाएं। इसी स्थिति

में दलित लड़कियों को सबसे पुरानी पुस्तकें मिलने की संभावनाएं होती हैं। यह भी अधिकांशतः होता है कि उनकी बारी आते-आते पुस्तकें ही समाप्त हो जाती हैं क्योंकि उन पंक्तियों में दलित लड़कियों के सबसे पीछे खड़े होने का परिवेश रचा जा चुका होता है। वास्तव में तो विद्यालयों में पक्तियों में प्रार्थना, पंक्तियों में कक्षा-कक्ष की बैठक व्यवस्था या अन्य सारी गतिविधियां भी पक्तियों के माध्यम से होती हैं और उन पंक्तियों का स्तरीकरण सामाजिक ढांचे के अनुरूप हो जाता है।

दलित लड़कियों को मिलने वाली पुस्तकों के साथ एक चुनौती यह भी आती है कि उनके घर में जो छोटे भाई-बहन होते हैं उनसे पुस्तकों की सुरक्षा करना। जब ये लड़कियां घर में पुस्तकें पढ़ रही होती हैं तो छोटे बच्चे झपटकर उन पुस्तकों को नुकसान पहुंचा देते हैं जिस पर शिक्षक की डांट सुनने के कारण इन पुस्तकालय की पुस्तकों के प्रति उनका लगाव कम होने लगता है। वे परिवार और विद्यालय की संरचनाओं के मध्य अपनी रुचियों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति नहीं पाती हैं। एक तरफ परिवार के आर्थिक संकटों के कारण बहुत मुश्किलों का सामना करते हुए विद्यालय तक पहुंचती हैं और दूसरी तरफ विद्यालय का वातावरण समावेशी न होने के कारण वहां पर उन्हें नेतृत्व में आगे आने के अवसर नहीं मिल पाते हैं। इससे उनकी निर्णय क्षमताओं पर गहरा मनो-सामाजिक प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव ऐसा होता है जिसमें स्वतंत्र चिंतन के स्थान पर शक्तिधारक के मत के प्रति सहमति प्रदान करना अपने हित का सर्वोत्तम रणनीतिक रास्ता माना जाता है और ऐसी रणनीतिक चुप्पी अपने अस्तित्व के लिए उत्पीड़ित समाज अपनाता है। एक सीमा पर जाकर वही चुप्पी की रणनीति उनके व्यवहार का प्रमुख आधार हो जाती है और उसे तोड़ने के लिए स्वतंत्र चेतना को लम्बा संघर्ष करना पड़ता है। निश्चित रूप से चुप्पी के इस दौर के समानान्तर एक प्रतिरोध की चेतना का विस्तार भी उनकी चेतना में विकसित होता रहता है लेकिन वह बाहर अभिव्यक्त होने के अवसरों को तलाशती रहती है। एक लोकतांत्रिक प्रणाली के रूप में इन अवसरों को उपलब्ध कराना विद्यालय की जिम्मेदारी होती है।

यहां पर ध्यान देने वाली बात यह भी है कि क्या सारे सार्वजनिक विद्यालयों की स्थिति दलित बालिकाओं के साथ व्यवहार को लेकर समान है? ऐसा नहीं है क्योंकि सार्वजनिक विद्यालयों की भौगोलिक और सामाजिक अवस्थिति के कारण ही उसका व्यवहार निर्धारित होता है। देश में सार्वजनिक विद्यालयों का एक समान व्यवहार अभी भी कार्यरूप में परिणित नहीं हुआ है। इसमें स्थानीयता के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। ग्रामीण क्षेत्र में जाति व्यवस्था की जकड़न शहरी क्षेत्र से तुलनात्मक रूप से अधिक है तो वहां पर बच्चों के साथ होने वाले व्यवहार को यह अधिक प्रभावित करती है, वहीं पर शहरी क्षेत्र में जाति का दंश कम हो जाता है। यहां पर सार्वजनिक विद्यालयों में अध्ययनरत अधिकांश बच्चे मजदूर वर्ग के होते हैं और उनका परिवार विभिन्न जगहों से पलायन करके शहर में आता है। इसलिए यहां पर जाति के आधार पर अन्य या अलग होने की धारणा बनने के स्थान पर क्षेत्र और बोलियों के आधार पर शक्ति संरचनाओं में परिवर्तन हो जाती है, लेकिन इसका यह तात्पर्य कतई नहीं कि शहरों में मजदूर वर्ग में जाति विलुप्त हो जाती है। वह उपस्थित रहती है और उनके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को प्रभावित और नियंत्रित भी करती है लेकिन उनके कार्यस्थलों पर जाति का रूपांतरण वर्ग में हो जाता है। वहां वे मजदूर होते हैं और इसी कारण उनके रहने की बस्तियां मजदूरों की बहुतायत के चलते उनकी वर्गीय पहचान बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

भारत में दलित लड़कियों की शिक्षा की स्थिति और चुनौतियों को समझने के लिए तीसरा पक्ष शिक्षा के दार्शनिक आधारों का है। देश की शिक्षा के दार्शनिक आधारों का विकास निश्चित रूप से प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक के विकास में हुआ है। इन्हें दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है, एक भाग में आधुनिक शिक्षा से पूर्व की शिक्षा पद्धति के दार्शनिक आधार थे। इनमें वंचितों जिसमें स्त्रियों और दलितों की शिक्षा के प्रावधान नहीं थे बल्कि उनकी शिक्षा पर एक तरह से रोक थी। यहां पर शिक्षा को जिस ज्ञान के माध्यम से जोड़ा गया वह ज्ञान सम्पूर्ण समाज की मुक्ति से संबंधित न होकर एक वर्ण के रोजगार से संबंधित था। इसलिए उस ज्ञान में किसी प्रकार की द्वंद्वात्मकता नहीं थी। जो यथास्थिति में ग्रंथों में वर्णित ज्ञान था उसे पीढ़ी दर पीढ़ी रटना होता था क्योंकि जिसको

उस ज्ञान में रुची नहीं थी उसके पास भी जीवनयापन के अन्य कोई विकल्प नहीं थे। उदाहरण के रूप में देखा जाए तो ज्ञान पर परम्परागत आधिपत्य ब्राह्मण वर्ग का था और दूसरा कोई किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करता तो उसे यह वर्ग अपनी शक्ति संरचना पर आक्रमण समझता। इन आक्रमणों को रोकने के लिए वह धर्म में पाप के भय के प्रावधान करके रखता था।

भारतीय शिक्षा में रटने की पद्धति यहां के परम्परागत ज्ञान मूल्यों के कारण आई है। पश्चिम की शिक्षा में तर्क और विवेक दो प्रमुख आधार तत्व हैं और सम्पूर्ण आधुनिक शिक्षा का विस्तार जहां पर भी हुआ वहां पर इन मूल्यों का भी विस्तार हुआ। भारत में इनके विस्तार में जो कमी आई उसका प्रमुख कारक यहां के लोक में परम्परागत ज्ञान के प्रति दृढ़ आस्था और जाति व्यवस्था है। दृढ़ आस्था के कारण किसी प्रकार के नये प्रयोगों की संभावनाएं कम हो गईं और एक ही तरह के ज्ञान की प्रधानता रही। बहुलतावादी समाज में ज्ञान की एकरूपता इसलिए रह पाई कि देशी समाज प्राच्य विद्या निष्ठा को प्रमुखता देता था। ज्ञान का बहुलतावादी नहीं होना उसके विकास के लिए घातक सिद्ध हुआ और एक लम्बे समय तक दर्शन में यथास्थिति बनी रही। पश्चिम में कोई नई दार्शनिक स्थापना जब भी आई तब यहां के प्राच्य पक्षधरों ने यह तर्क दिया कि इस तरह का ज्ञान और चिंतन बहुत पहले यहां पर हो चुका है। इस तर्क की पुष्टि के लिए विभिन्न धर्म ग्रंथों से प्रमाण एकत्रित किये गए लेकिन कभी भी इस तरह के समकालीन चिंतन में भारत के लोगों की तरफ से कोई पहल नहीं की गई कि वे विश्व के समक्ष अपने ज्ञान को रखें और लोग उस पर विमर्श करें।

इसका कारण यह था कि यहां की परम्परा में ज्ञान के लोकतांत्रिकरण का स्थान न होकर उसे एक पवित्रता की श्रेणी में रखा गया था। इस शास्त्रीय ज्ञान परम्परा के अतिरिक्त अन्य लोक सृजन परम्परा थी जिसे राज्य, धर्म और समाज द्वारा किसी प्रकार का संरक्षण नहीं मिल पाने के कारण उसका दस्तावेजीकरण नहीं हो पाया। दलित समाज के विकास में स्त्रियों के योगदान को प्राचीन भारत में कहीं रेखांकित नहीं किया गया क्योंकि दस्तावेजीकरण यह श्रमशील समाज जानता ही नहीं था। यह समाज तो सृजनशील था और अपनी स्मृति के आधार पर लोक ज्ञान को व्यवहार के साथ विकसित करता रहता था। इसलिए दलित लड़कियां रटने की शिक्षा पद्धति के पूरे दर्शन से ही असहज हो जाती हैं। उनके परिवेश में इस तरह की कोई परम्परा है ही नहीं। भारत के प्राचीन ज्ञान परम्परा में वे अपने समाज की आवाज को महसूस ही नहीं कर पाती हैं और वह इतिहास उन्हें बहुत अजूबा-सा लगता है।

दूसरे दार्शनिक आधार आधुनिक शिक्षा के हैं जो पूरी तरह से तर्क और विवेक पर आधारित है। हालांकि भारत में उसके कार्यों में भी परम्परा का पर्याप्त मिश्रण होने के कारण उनका स्वरूप बदल जाता है। यह अपनी सुविधानुसार कहीं प्रगतीवादी हो जाती है तो कहीं प्रतिगामी रूप धारण कर लेती है। परम्परागत दार्शनिक आधारों में दलित समाज के इतिहास से अलग होना एक बड़ी चुनौती के रूप में सामने आता है। वहीं आधुनिक शिक्षा के दार्शनिक आधारों में उनका परिवेश ही उन्हें तर्क और विवेक से काम नहीं लेने देता। विशेषकर जब लड़कियों के तर्क किए जाने का संदर्भ आता है तो दलित पितृसत्ता अपनी दृढ़ता को कायम रखती हुई इसके विरोध में आकर डट जाती है। वह किसी भी प्रकार की आधुनिकता को ग्रहण करने को ही अपने लिए खतरा समझती है और इस स्थिति में वह शक्ति संरचना एक सीमा पर जाकर वर्णवादी वर्चस्व के पक्ष में खड़ी हो जाती है। इसी बिंदु पर दलित स्त्री उत्पीड़न के सबसे नीचे की श्रेणी पर स्वयं को महसूस करती है।

परम्परावादी और आधुनिकता के ये दोनों दार्शनिक आधारों में आधुनिकता एक समानता का विकल्प प्रस्तुत करती है और उस विकल्प को प्राप्त करने के लिए शिक्षा नीतियों जैसे दस्तावेज भी तैयार किये जाते हैं। आधुनिक दार्शनिक आधारों की स्थापना इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये लोकतंत्र की बुनियाद से संबंधित हैं और कुछ सीमा तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के पक्षधर हैं जबकि परम्परागत आधार काफी दकियानूसी हैं। आधुनिक दार्शनिक आधारों के साथ सबसे बड़ा संकट यह है कि वे सारे चिंतन का केंद्र व्यक्ति को रखते हैं, उसकी परिस्थिति और उत्पादन संबंधों से उसकी स्थिति निर्धारिण को स्वतंत्र मानते हैं। ऐसे में व्यक्ति बेहतर भविष्य का स्वप्न स्वयं से आरंभ करके स्वयं पर ही समाप्त

कर लेते हैं। प्रत्येक का स्वप्न अलग और स्वतंत्र होता है और वह अन्य किसी के स्वप्न के प्रति जवाबदेह नहीं है। इस स्थिति में व्यक्ति की गरीमा और स्वतंत्रता सिद्धांत के बतौर तो बड़ी आकर्षक और लुभावनी लगती हैं लेकिन व्यवहार के स्तर पर ये एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ संबंध का विच्छेद करती है जो अंत में जाकर एक अराजक स्थिति तक पहुंच जाती है या फिर कुछ व्यक्तियों के समूहों में सारी शक्ति का संकेंद्रण हो जाता है।

इस स्थिति में दर्शन के केंद्र में व्यक्ति रह सकता है लेकिन वह किसी समूह की अभिवृत्तियों और प्रवृतियों का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। जीवन का सच वैसा ही नहीं हो जैसा केवल मात्र एक व्यक्ति का सच है जबकि जीवन का सच ऐसा हो कि वैसा बहुत से लोगों का सच है और उदाहरण के ठोस रूप में उस व्यक्ति के सच को देखा जा सकता हो। इससे एक सामूहिक वर्गीय अवधारणा का विकास होता है और वह शिक्षा के लिए बहुत आवश्यक है क्योंकि शिक्षण के लक्ष्य तभी सार्थक रूप से तय हो पाते हैं जब बड़े समूह की चुनौतियों को सूक्ष्म रूप से रेखांकित करके आगे बढ़ा जाए।

भारत में दलित लड़कियों की शिक्षा के समुचित प्रयासों को आगे बढ़ाने के लिए इन दार्शनिक आधारों को परिवर्तित करने की आवश्यकता है। समानता और स्वतंत्रता को चिंतन और व्यवहार के क्षेत्र में अपनाना होगा। वर्णवादी वर्चस्व और पितृसत्ता का सम्पूर्ण उन्मूलन ही केवल उपाय है जो दलित स्त्री को उन्मुक्त विकास के अवसर प्रदान कर सकता है लेकिन यह एक लम्बी और जटिल प्रक्रिया है। इसलिए जब तक इन दोनों शोषणकारी संरचनाओं का अंत नहीं होगा तब तक समानांतर नई संरचनाओं के विकास के प्रयास आवश्यक हैं और वह संरचना लोकतांत्रिक मूल्यों के विस्तार की है। इन मूल्यों का विस्तार शिक्षा के माध्यम से विद्यालय और बाहरी परिवेश दोनों की शक्ति संरचनाओं को तोड़कर समानता का एक वातावरण बनायेगा जो स्वतंत्र चिंतन की आधारशिला बनेगा।

दलित लड़कियों की शिक्षा के लिए उनके परिवारों की समझ का विस्तार करने की आवश्यकता है और जरूरी है कि विद्यालय का वातावरण अधिक मानवीय बने। साथ ही, पाठ्यचर्या को उनके परिवेश से जोड़ते हुए वैज्ञानिक व लोकतांत्रिक चिंतन की ओर अग्रसर करने की आवश्यकता है। उनकी नेतृत्व और निर्णय निर्धारण की क्षमता के विकास के लिए अवसरों की अधिकाधिक उपलब्धता हो जिसमें सारे सकारात्मक पक्षों को रेखांकित किया जाये न कि नकारात्मक पक्षों को। शिक्षकों के सेवापूर्व प्रशिक्षण और सेवाकालीन प्रशिक्षणों में जेंडर और जाति को लेकर वैज्ञानिक व लोकतांत्रिक समझ का विकास किया जाए। तभी यह उम्मीद की जा सकती है कि शिक्षा दलित लड़कियों के लिए अवसर की समानता व विकल्प का रास्ता खोले। ◆

लेखक परिचय : 'कोकिलाशास्त्र', 'दूजी मीरा' (कहानी संग्रह), 'अन्ना से अरविंद तक' (संपादित लेखों का संग्रह), राजस्थानी में एक बाल कहानी संग्रह प्रकाशित साथ ही विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख एवं कहानियां प्रकाशित। वर्तमान में राजस्थान विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में *'भारतीय राजनीति में दलित स्त्रीवाद-एक विश्लेषणात्मक अध्ययन'* विषय पर शोधरत।

संपर्क : 9116038790; skmeel@gmail.com